© 2017 IJSRSET | Volume 3, Issue 8, November-December-2017
Print ISSN: 2395-1990 | Online ISSN : 2394-4099 | Page No : 1265-1271

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था – सिद्धान्त एवं व्यवहार

डॉ. अलका चतुर्वेदी
पूर्वशोधच्छात्रा, राजनीति शास्त्र विभाग,
एच.एन. बहुगुणा गढवाल, विश्वविद्यालय, श्रीनगर उत्तराखण्ड

शोध आलेख सार – लोकतान्त्रिक व्यवस्था में सम्प्रभु शक्ति नागरिकों में निहित रहती है परन्तु हर नागरिक को मताधिकार प्राप्त नहीं होता है। केवल एक निश्चित आयु वाले नागरिक ही मताधिकार रखते है। इसलिये वास्तव में राजनीतिक व्यवस्था की शक्ति का हस्तान्तरण अपने प्रतिनिधि मतदाताओं में निहित हो जाती है। यह चुनाव में इस शक्ति का हस्तांरण अपने प्रतिनिधियों को करते हैं। इस प्रकार निर्वाचित प्रतिनिधियों के माध्यम से राजनीतिक शक्ति व्यवस्थापिका में आ जाती है।

मुख्य शब्द– भारतीय, राजनीतिक, व्यवस्था, सिद्धान्त, व्यवहार, लोकतान्त्रिक।

सिद्धान्त :– 1953 में डेविड ईस्टन ने व्यवस्था–सिद्धान्त के समाज शास्त्रीय अध्ययनों में उपयोगी प्रयोग से प्रभावित होकर **'दि पांलिटिकल सिस्टम',** पुस्तक प्रकाशित की, जिसमें उन्होने कहा कि वह सब सामाजिक विज्ञानों को एक सूत्र में बांधते हुये एक सिद्धान्त निमार्ण का प्रयास करेगें। उन्होने न केवल इस प्रक्रिया से संबंधित पक्षों के विषय में बल्कि संपूर्ण राजनीतिक प्रक्रिया से सम्बन्धित सिद्धान्तों के प्रतिपदान की आवश्यकता पर बलदेकर विद्वानों में प्रमुख हो गये। ''ईस्टन से पहले मर्टन और पार्सन्स ने सामान व्यवस्था सिद्वान्त को राजनीतिक अध्ययनों में उपयोगी बताते हुये इसके आधार पर राजनीतिक विश्लेषण भी किये, किन्तु वे मौलिक रूप से समाजशास्त्री थे और इस कारण सामान्य व्यवस्था सिद्वान्त का उन्होने राजनीतिक अध्ययनों में प्रयोग में तो किया पर सब समाज शास्त्रीय ढ़ग से ही निस्पादित हुआ। **डेविड ईस्टन** पहले ऐसे राजनीति शास्त्री थे जिन्होने इस सिद्वान्त का राजनीतिक विश्लेषण में केवल राजनीतिक संदर्भ प्रमुख माना। एलेन बाल ने इस सम्बन्ध में ठीक ही लिखा है कि ''साथ ही उनकी गिनती उन थोड़े से विद्वानों में होती है जो मुख्य रूप से राजनीति शास्त्री हैं और जिनका अन्य सामाजिक विज्ञानों से गौण सम्बन्ध है।''[1] । **आमण्ड** और **पावेल** ने इस सम्बन्ध में ठीक ही लिखा है, कि ''डेविड और ईस्टन पहले राजनीति शास्त्री हैं जिन्होने राजनीति को स्पष्टयता व्यवस्था के रूप में विश्लेषित किया।''[2] इस प्रकार राजनीति शास्त्र में व्यवस्था विश्लेषण का प्रयोग विशेष रूप से डेविट ईस्टन के द्वारा ही प्रारम्भ हुआ कहा जा सकता है।

रहे हैं–

ईस्टन ने राजनीतिक व्यवस्था के सिद्वान्त को परिभाषित करते हुये लिखा है कि ''किसी समाज में पारस्परिक क्रियाओं की ऐसी व्यवस्था को, जिससे उस समाज में बाध्यकारी या अधिकारपूर्ण नीति–निर्धारण होते है, राजनीति व्यवस्था कहा जाता है।''[3] ईस्टन के द्वारा दिया गया यह सिद्वान्त बहुत सामान्य है तथा

© 2017 IJSRSET | Volume 3, Issue 8, November-December-2017
Print ISSN: 2395-1990 | Online ISSN : 2394-4099 | Page No : 1265-1271

राजनीतिक व्यवस्था की मौलिक प्रकृति का ही स्पष्टीकरण करती है। इससे राजनीतिक व्यवस्था के लक्षणों का व्यापक विश्लेषण करने में कोई विशेष सहायता नही मिलती है, इसी कारण स्वयं **ईस्टन** ने बाद में इससे अधिक सुस्पष्ट सिद्वान्त प्रतिपादित किये हैं– ''राजनीतिक व्यवस्था में परिपूर्ण सत्ता है जो उस वातावरण या परिवेश, जिससे वह घिरी हुई होती है और जिसके अंतर्गत वह प्रचलित होती है, स्पष्टता पृथकनीय रहती है।''[4]

अमाण्ड और **पावेल** ने राजनीतिक व्यवस्था की परिभाषा करते हुये लिखा है कि ''राजनीतिक व्यवस्था से इसके अंगो की अर्न्तनिर्भरता और इसके पर्यावरण में किसी न किसी प्रकार की सीमा का बोध होता है। आमण्ड ने राजनीतिक व्यवस्था के अंगों की अर्न्तनिर्भरता को स्पष्ट करते हुये लिखा है कि पारस्परिक निर्भरता से हमारा आशय है कि जब किसी व्यवस्था में किसी अंग के गुणों या लक्षणों में परिवर्तन होता है तो इससे सभी अंग और संपूर्ण व्यवस्था प्रभावित होती है।''[5]

राजनीतिक व्यवस्था के इन सिद्वान्तों से स्पष्ट है कि राजनीतिक व्यवस्था एक ऐसी उपव्यवस्था है जिसके विभिन्न भागों में ऐसी सम्बन्ध सूत्रता होती है कि व्यवस्था के किसी भाग में हुआ कोई भी परिर्वतन अन्य अतः क्रियाशील अंगो तथा सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था में भी अनुकूल परिवर्तन ला देता है। इन सिद्वान्तों से यह भी स्पष्ट होता है कि राजनीतिक व्यवस्था स्वयं में एक परिपूर्ण सत्ता है जो किसी परिवेश में ही सक्रिय होती है। इस पर्यावरण से यह प्रभावित होती है, किन्तु इस पर्यावरण की दास नहीं होती। इतना ही नहीं,वह इस पर्यावरण को निर्णायक रूप से निरूपित भी करती है। राजनीतिक व्यवस्था के इन सिद्वान्तों से इसके लक्षणों का संकेत मिलता है। इन लक्षणों का विवेचन करने से राजनीतिक व्यवस्था के अर्थ को अधिक अच्छी तरह से समझना सम्भव होगा। अतः संक्षेप में राजीतिक व्यवस्था के प्रमुख लक्षणों का वर्णन किया जाता है।**आमण्ड** का अभिमत है कि हर रानीतिक व्यवस्था में –

(1) अनेक अंग या भाग होते हैं (कार्य पालिका, व्यवस्थापिका इत्यादि);

(2) विभिन्न अंगों में प्रकार्यात्मक सम्बन्ध होता है;

(3) हर अंग की सम्पूर्ण व्यवस्था में निश्चित भूमिका रहती है, और

(4) हर अंग की भूमिका समान नहीं होती है।

इससे स्पष्ट है कि राजनीतिक व्यवस्था इस सावयवी की रचना के समान मानी गयी है, जिसमें पारस्परिकता की दृष्टि से अंग ठीक उसी प्रकार का सम्बन्ध रखते है जैसा कि प्राणी शरीर के विभिन्न भागों के बीच सम्बन्ध होता है उदाहरण के लिये जिस प्रकार शरीर में कुछ अवयव जैसे– हृदय, मस्तिष्क आदि ऐसे भाग हैं जिनके बिना प्राणी शरीर जीवित नहीं रह सकता। यहां हृदय को न लेकर केवल मस्तिष्क को ही ले तब यह बात और भी अधिक स्पष्ट हो सकेगी। ऐसा ही अंग राजनीतिक व्यवस्था में कार्यपालिका का है। राजनीतिक व्यवस्था लम्बी अवधि तक व्यवस्थापिका या न्यायपालिका के न होने पर भी चल सकती। यही कारण है कि कार्यपालिका का स्थान रिक्त होते ही उसको तुरन्त भरने की व्यवस्था की जाती है। भारत के प्रधानमंत्री प0 जवाहर लाल नेहरू और लाल बहादुर शास्त्री की मृत्यु के समाचार मिलने पर तुरन्त ही तत्कालीन राष्ट्रपतियों द्वारा दोनों ही बार गुलजारी लाल नन्दा को कार्यवाहक प्रधानमंत्री नियुक्त किया गया था।[6] इन उदाहरणों को और बढ़ाया जा सकता है। जैसे प्राणी शरीर में हाथ या पैर की भूमिका के समान राजनीतिक व्यवस्था में भी संसद, न्यायपालिका होती है जिनके होने पर व्यवस्था का काम अधिक सुचारू रूप से चलता है। जैसे किसी व्यक्ति के हाथ न हो तो भी व्यक्ति जीवित रहेगा पर वह उस प्रकार सुचारू रूप से अपना

© 2017 IJSRSET | Volume 3, Issue 8, November-December-2017
Print ISSN: 2395-1990 | Online ISSN : 2394-4099 | Page No : 1265-1271

कार्य नहीं कर सकेगा जिस तरह हाथ होने पर करता है। अतः हर राजनीति व्यवस्था के अंगों में पारस्परिकता होती है यह प्रकार्यात्मक रूप रखती है, हर अंग कुछ न कुछ भूमिका अन्य अंगो व सम्पूर्ण व्यवसाय के लिये अवश्य निभाता है। इस प्रकार हम इस पहले लक्षण से यह निष्कर्ष निकाल सकते है। कि हर राजनीतिक व्यवस्था में तीन तरह के हिस्से अन्तः क्रियाशील रहते हैं। यह तीन हिस्से हैः–

1. राजनीतिक व्यवस्था के प्राणधारी भाग।
2. राजनीतिक व्यवस्था के पूरक भाग, और
3. राजनीतिक व्यवस्था के मानार्थी भाग।

राजनीतिक व्यवस्था के विभिन्न अंग दो प्रकार की भूमिका निभाते हैं। इनमें से कौन सी भूमिका निभाई जायेगी, यह कई परिस्थतियों और कारकों पर निर्भर करता है । इसका अर्थ यह है कि व्यवस्था का हर अंग सम्पूर्ण व्यवस्था के लिये प्रकार्यात्मक ;थ्नदबजपवदंसद्ध भूमिका और विकार्यात्मक ;क्पेनिदबजपवदंसद्ध भूमिका निभाता है। ''प्रकार्यात्मक भूमिका में व्यवस्था को बनाये रखने की भूमिका सुनिश्चित होती है जबकि किसी विकार्यात्मक भूमिका में व्यवस्था को तोड़ने की प्रवृत्तियां को प्रात्साहन मिलता है''[7] आमण्ड की मान्यता है कि सामान्यतया राजनीतिक व्यवस्थाएं टूटती नही है। वे बड़े से बड़े झंझावतों को भी झेल लेती है। उदाहरण के लिये ''वाटरगेट कांड'' महत्वपूर्ण_घटना से अमेरिका में राजनीतिक व्यवस्था केवल हिलकर रह गयी पर टूटी नहीं इसका कारण राजनीतिक व्यवस्था में ही कुछ निमित्तकारी संरचनाओं या यंत्र रचनाओं का होना है जो कि व्यवस्था की सामान्य अवस्था में अप्रत्याशित विचलन को स्वतः ही सक्रिय होकर ठीक कर देते है। उदाहरण के लिये राजनीतिक दल , हित समूह,लोकमत या नियतकालिक चुनावों की व्यवस्था इत्यादि ही संरचनात्मक व्यवस्थाएं हैं। इसलिये तो राजनीतिक व्यवस्था को ''स्वतः नियंत्रित व्यवस्था'' तक कहा जाता है।[8]

इसकी सीमा व्यक्तियों, संस्थाओं का भू–भाग से सम्बन्धित नही होती है इसकी सीमा अन्तः क्रियाशील राजनीतिक भूमिकाओं के संदर्भ में मानी जाती है।''[9] राजनीतिक व्यवस्था भी इसी प्रकार की भूमिकाओं की सीमा रखती है। एक किसान हल जोतते समय राजनीतिक व्यवस्था के भाग या उसकी सीमा में नही आता, किन्तु वोट देते समय या राजनीतिक विषयों पर चर्चा करते समय वह राजनीतिक व्यवस्था की सीमा में समाविष्ट हो जाता है। अतः राजनीतिक सीमा का अर्थ राजनीतिक व्यवस्था के भागों की राजनीतिक भूमिकाओ से लिया जाता है।[10]

राजनीतिक दृष्टि से विशेष महत्व प्राप्त करता जा रहा है। राज्य की हर गतिविधि का केन्द्र अब राजनीतिक व्यक्ति बन गया है। वह हर राजनीतिक इस अर्थ से यह विशेषताएं परिलक्षित होती हैं–

1. राजनीतिक व्यवस्था की सीमा लचीली होती है। इसकी सीमा में कमी या वृद्वि होती रहती है। उदाहरण के लिये चुनावों या जनक्रान्ति के समय इसकी सीमा अत्याधिक बढ़ जाती है।
2. सीमा से राजनीतिक व्यवस्था अपने आप में परिपूर्ण सत्ता बन जाती है। इसका अर्थ यह है कि राजनीतिक व्यवस्था को बनायें रखने और उसकी सजीवता व गत्यात्मकता के लिये आवश्यक तत्व व्यवस्था के अन्दर ही विद्यमान रहते है, किन्तु राजनीतिक व्यवस्था उन सबका सफलतापूर्वक मुकाबला करती रहती है। कभी–कभी अभूतपूर्व अवस्थाओं में भी वह डावाडोल होकर पुनः सुस्थापित हो जाती है।राजनीतिक भूमिका को स्पष्ट करते हुये आमण्ड ने लिखा है कि ''उस भूमिका को जिससे राजनीतिक व्यवस्था की सक्रियता पर प्रभाव पड़ता है, राजनीतिक भूमिका कहा जाता है।''[12]

© 2017 IJSRSET | Volume 3, Issue 8, November-December-2017
Print ISSN: 2395-1990 | Online ISSN : 2394-4099 | Page No : 1265-1271

राजनीतिक व्यवस्था अपने आप में ऐसी स्वतन्त्र व्यवस्था नहीं है जो किसी भी प्रकार के पर्यावरण में क्रियाशील नहीं रहती है। ईस्टन की मान्यता है कि ''राजनीतिक व्यवस्था इस प्रकार के पर्यावरणों से घिरी रहती है और उनके द्वारा प्रस्तुत परिवेश के अन्तर्गत ही सक्रिय रहती है।''[13] ईस्टन ने परिस्थितकीय आर्थिक, सांस्कृतिक राष्ट्र के व्यक्तित्व और जन–सांख्किीय पर्यावरणों का विशेष रूप से उल्लेख किया है। हर राजनीतिक व्यवस्था के पर्यावरण में सक्रिय रहने से सम्बन्धित महत्वपूर्ण पक्ष इस प्रकार विवेचित किये जा सकते हैः–

(क) राजनीतिक व्यवस्था चारों तरफ के वातावरण या पर्यावरण से घिरी रहती है।

(ख) राजनीतिक व्यवस्था उस पर्यावरण में ही परिचालित होती है जिससे वह घिरी रहती है।

(ग) राजनीतिक व्यवस्था इस पर्यावरण से प्रभावित होती है, और

(घ) राजनीतिक व्यवस्था इस पर्यावरण को स्वयं को प्रभावित करती है।राजनीतिक व्यवस्था अन्य सभी व्यवस्थाओं से इस विशेषता के आधार पर ही अलग और अनोखी बनती है। अन्य व्यवस्थाओं के पास औचित्यपूर्ण बाध्यकारी शक्ति नहीं होती है। इस शक्ति के कारण ही राजनीतिक व्यवस्था अन्य व्यवस्थाओं को आदेश देने वाली तथा उनसे सर्वापरि बनती है इसी कारण से ईस्टन ने राजनीतिक व्यवस्था को ''मूल्यों का अधिकारिक वितरक'' कहा है।[14]

इस विशेषता को लेकर आमण्ड और पावेल ने मैक्स वेबर से सहमति प्रकट करते हुये लिखा है कि ''वैध शक्ति वह सामान्य धारा या धागा है जो राजनीतिक व्यवस्था के कार्यो में प्रवाहित या पिरोया रहता है जो इसे इसका विशिष्ट लक्षण और महत्व तथा व्यवस्था के रूप में संगति या सामंजस्य प्रदान करते है।''[15] अतः राजनीतिक व्यवस्था की एक ऐसी सत्ता है जिसके पास औचित्य युक्त शक्ति रहती है और जो इस शक्ति का प्रयोग दण्ड देने, नियमों या निर्णयों को लागू करने और लोगों को उन्हे मानने के लिये बाध्य करने में कर सकती है।

सिद्धान्त–निर्माण :

राजनीतिक सिद्वान्तों को दो श्रेणियों में विभक्त करते हैं–**प्रथम आदर्शी सिद्वान्त** तथा **दूसरे आनुभविक सिद्वान्त** कहे जाते है। आदर्शी सिद्वान्तों में राजनीतिक व्यवस्थाओं के बारे में कोई कल्पना मस्तिष्क में कर ली जाती है और फिर इस कल्पना को रचनात्मक रूप दिया जाता है।[16] जैसे प्लेटों ने दार्शनिक राजाओं की कल्पना की और फिर इस कल्पित आदर्शों के आधार पर आदर्श राज्य की संरचना की। इस प्रकार की चिन्तन क्रिया आदर्शी सिद्वान्तों के निर्माण में सहायक होती है। इसका सामान्यतया ठोस तथ्यों से विशेष सम्बन्ध नही होता।

आनुभविक सिद्वान्तों में राजनीतिक व्यवहार के वास्तविक तथ्यों को समझकर सिद्वान्तों का निर्माण होता है। इसमें राजनीति शास्त्री स्वय तथ्यों के संकलन के लिये राजनीतिक व्यवहार के क्षेत्र में जाकर राजनीतिक व्यवहार का अवलोकन करता है। आंकड़ों को एकत्र कर, ठोस तथ्यों के आधार पर सिद्वान्त प्रतिपादन का कार्य करता है। इस प्रकार स्थापित सिद्वान्तों को आनुभविक सिद्वान्त कहते है और इनका सीधा सम्बन्ध प्रचलित राजनीतिक वास्तविकताओं से रहता है।[17]

व्यवहार :

व्यवहारवादी दृष्टिकोण सर्वाधिक व्यापक दृष्टिकोण है जो परम्परावादी दृष्टिकोण से मुख्यतः इस दृष्टि से भिन्न है कि इसमें मूल्यों का कोई स्थान नही है। यह व्यावहारिकता राजनीतिक तथ्यों की व्याख्या और विश्लेषण का एक विशिष्ट तरीका है जो राजनीति विज्ञान के संदर्भ में राजनीतिक व्यवहार पर केन्द्रित होता

© 2017 IJSRSET | Volume 3, Issue 8, November-December-2017
Print ISSN: 2395-1990 | Online ISSN : 2394-4099 | Page No : 1265-1271

है। राजनीतिक व्यवहार के अध्ययन द्वारा यह राजनीति उसकी संरचनाओं प्रकियाओं आदि की वैज्ञानिक व्याख्याएं प्रस्तुत करता है। तथा उनकी परिभाजन एवं संक्रियात्मक परिभाषाएं विकसित करता है। अतः यह अनुभावात्मक और प्रकार्यात्मक अधिक है। भारतीय राजनीति के अध्ययन में व्यवहारवादी दृष्टिकोण कुछ ही क्षेत्रों तक सीमित रहा है। विशेषकर मतदान व्यवहार के अध्ययन में इस उपागम का अधिक प्रयोग किया गया है। इस दृष्टि से डा0 एस0पी0 वर्मा एवं डा0 इकबाल नारायण को बदलते परिदृश्य में मतदान व्यवहार को समझने में इस कृति से पर्याप्त सहायता मिलती है और साथ ही साथ यह पता चलता है कि भारत में धर्म के आधार पर राजनीतिक दलों का निर्माण हुआ है तथा चुनावों में मत और समर्थन प्राप्त करने के लिये भी धर्म एवं जाति का सहारा लिया जाता है जो देहाती क्षेत्रों में अधिक दिखाई देता है। यहां पर चुनावों में जाति, सम्पत्ति, व्यक्तिगत प्रभाव तथा क्षेत्रीयता को पर्याप्त प्रभाव से भारत में जिनके पास पूंजी–प्रभाव प्रचुरता से है वे चुनावों में बाजी मार ले जाते हैं और मध्यम एवं निम्न वर्ग मूक दर्शक बने देखते रहते हैं।

उपरोक्त तथ्य समाज में फैले भ्रातियां और भ्रष्टाचार को दर्शाने के लिये है, अब हम इसका विस्तार पूर्वक वर्णन करते हैं:–

संसदीय शासन व्यवस्था[18]

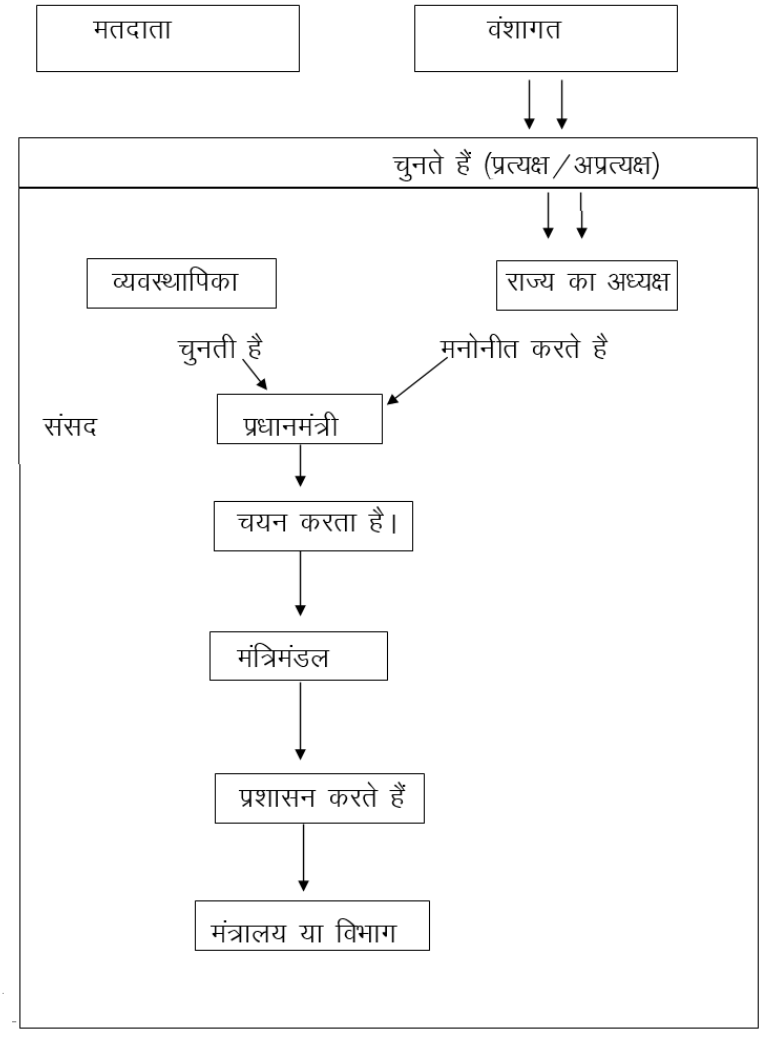

© 2017 IJSRSET | Volume 3, Issue 8, November-December-2017
Print ISSN: 2395-1990 | Online ISSN : 2394-4099 | Page No : 1265-1271

संसदीय शासन प्रणाली की विशेषताओं के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह प्रणाली कुछ आधारभूत विलक्षणताएं परिलक्षित करती है। प्रथम तथ्य है, राजनीतिक व्यवस्था की संपूर्ण शक्तियों का संसद में केन्द्रित रहना, दूसरी बात यह है कि कार्यपालिका का व्यवस्थापिका के प्रति निरन्तर उत्तरदायित्व तथा तीसरा महत्वपूर्ण तथ्य है– प्रधानमत्री मंत्रिमंडल के अभिन्न भाग के रूप में ही शक्तियों का धारक होता है उससे अलग उसका कोई अस्तित्त्व नहीं होता है। अगर इन तीनों बातों को व्यवहार में देखा जाय तो लगेगा कि शक्तियों का केन्द्र अब संसद केवल सैद्वान्तिक दृष्टि से ही कही जा सकती है। इसी कारण मंत्रीमण्डल का व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायित्व भी केवल औपचरिकता ही रह गया है तथा प्रधानमंत्री मंत्रिमंडल के भाग के रूप में शक्तियां का द्योतक नहीं हैं बल्कि अब मंत्रिमंडल प्रधानमंत्री के हाथों की कठपुतली कहा जा सकता है। अब शक्ति का केन्द्र प्रधानमंत्री बन गया है। इसीलिये ससंदीय शासन प्रणाली को अब "प्रधानमंत्रीय शासन व्यवस्था" कहना अधिक उपयुक्त माना जाता है।[19] वास्तव में दल व्यवस्था के उद्भव के कारण आम चुनावों में मतदान तक प्रधानमंत्री या विरोधी दल के नेता (वैकल्पिक प्रधानमंत्री) के इर्द–गिर्द होने लगा है। जहां द्वि दलीय व्यवस्थाएं है वहां तो यह बहुत कुछ स्पष्ट रहता है कि प्रधानमंत्री के पद के विकल्पों में से एक का चुनाव करना है परन्तु विकासशील राज्यों में यह तथ्य और भी अधिक सत्य बन जाता है क्योंकि इन राज्यों में सामान्यता प्रधानमंत्री का विकल्प ही नहीं होता है और वर्तमान प्रधानमंत्री को ही चुनना या नहीं चुनना होता है। इस रूप में प्रधानमंत्री में एक तरह से जन निर्वाचित सा हो जाता है और इसी कारण वह शक्ति का केन्द्र बन जाता है। शायद इसीलिये रेमजेक्यूर ब्रिटेन के प्रधानमंत्री को "निर्वाचित तानाशाह" की संज्ञा देता है।[20]

वास्तव में संसदीय शासन व्यवस्थाओं में संसद के स्थान पर शक्तियों का केन्द्र प्रधानमंत्री बनता जा रहा है। एक दलीय प्रधान व्यवस्था तथा द्विदलीय व्यवस्थाओं में प्रधानमंत्री का शक्ति केन्द्र समझ में आता है परन्तु, बहुदलीय व्यवस्थाओं में भी प्रधानमंत्री जब तक पद पर रहता है तब तक शक्ति का केन्द्र ही बना रहता है। संसदीय व्यवस्थाओं में प्रधानमंत्री में शक्तियों के केन्द्रीकरण को संविधान द्वारा समझा जा सकता है।

हर लोकतान्त्रिक व्यवस्था में सम्प्रभु शक्ति नागरिकों में निहित रहती है परन्तु हर नागरिक को मताधिकार प्राप्त नहीं होता है। केवल एक निश्चित आयु वाले नागरिक ही मताधिकार रखते है। इसलिये वास्तव में राजनीतिक व्यवस्था की शक्ति का हस्तान्तरण अपने प्रतिनिधि मतदाताओं में निहित हो जाती है। यह चुनाव में इस शक्ति का हस्तांरण अपने प्रतिनिधियों को करते हैं। इस प्रकार निर्वाचित प्रतिनिधियों के माध्यम से राजनीतिक शक्ति व्यवस्थापिका में आ जाती है। व्यवस्थापिका की शक्ति बहुमत के आधार पर प्रयुक्त होती है। इसलिये व्यवहार में व्यवस्थापिका की शक्ति बहुमत दल के द्वारा ही होता है।

व्यावहारिक दृष्टिकोण से संसदीय शासन की सफलता की आवश्यक शर्तो की सूची बनाना सम्भव नहीं है परन्तु कुछ राजनीतिक व्यवस्थाओं में संसदीय शासन का सुचारू रूप से चलना यह प्रश्न उत्पन्न करता है कि संसदीय प्रणाली क्यों कुछ राजनीति व्यवस्थाओं में सुचारू रूप से संचालित हो पाती है तथा कुछ में यह नहीं चल पाती? इससे कुछ ऐसी सामान्य परम आवश्यकताओं का संकेत ही दिया जा सकता है जो संसदीय प्रणाली की सुचारूता में अधिक सक्रिय पाई जाती है। इनमें से कुछ इस प्रकार है–

1. प्रतियोगी दल व्यवस्था।
2. राज्य के अध्यक्ष की ध्वजमात्रता।
3. राज्य के अध्यक्ष की तटस्थता।
4. स्पीकर की निष्पक्षता
5. संसद की सर्वोच्चता।
6. नियतकालिक चुनाव।

सन्दर्भ सूची

© 2017 IJSRSET | Volume 3, Issue 8, November-December-2017
Print ISSN: 2395-1990 | Online ISSN : 2394-4099 | Page No : 1265-1271

1. गेना0 सी0बी0: "तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थाएं, राजस्थान (जयपुर), संस्करण 1998
2. गेना0 सी0बी0: "तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थाए" राजस्थान (जयपुर), संस्करण 2003
3. गेना0 सी0बी0: "तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थाए" राजस्थान (जयपुर), संस्करण 2002
4. वर्मा, एस0पी0: आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त" राजस्थान (जयपुर), संस्करण 2003
5. वर्मा, एस0पी0: "आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त" राजस्थान (जयपुर), संस्करण 2003
6. नायर, कुलदीप : बिटवीन द लाइन्स", 1969
7. जान्स, मौरिस : ''भारतीय सरकार व राजनीति'', 1971 इचिन्सन यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी।
8. जान्स, मौरिस : ''भारतीय सरकार व राजनीति'', 1971 इचिन्सन यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी।
9. जैन, पुखराज : ''तुलनात्मक शासन एवं राजनीति', 2006 साहित्य भवन पब्लिकेशन।
10. गेना, सी0बी0 ''तुलनात्मकशासन एवं राजनीति', 2006 साहित्य भवन पब्लिकेशन।
11. नारंग, एस0एस0 : ''भारतीय शासन एवं राजनीति'', 2005 गीताजंलि पब्लिशिंग हाउस।
12. वर्मा, एस0पी0 : आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था।
13. जौहरी, जे0सी0, ''भारतीय राजनीति व्यवस्था'' 2006 दिल्ली पब्लिकेशन।
14. Ball, A.R. Modern Politics and Government, London MacMillan, 1971.
15. Bentley, A.F., The Process of Government, San Antonio : Principia Press of Trinity University, 1992.
16. Ibid.
17. गेना, सी.बी. : तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थाएँ।
18. सईद, एस0एम0 : ''भारतीय राजनीतिक व्यवस्था'' 2002 सुलभ प्रकाशन लखनऊ।
19. गेना, सी0 बी0: तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थाएँ।
20. बसु, दुर्गादास : ''भारतीय संविधान'', कलकत्ता, एस.सी. सरकार एण्ड सन्स, 2005